२

मानव-संस्कृति में व्रतों का योगदान

मानव-जाति के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि आदिकाल के अकर्म-युग से मनुष्य ने जब कर्म-युग में प्रवेश किया, तब उसके जीवन का लक्ष्य अपने पुरुषार्थ के आधार पर निर्धारित हुआ। जैन परम्परा और इतिहास के अनुसार उस मोड़ के पहले का युग एक ऐसा युग था, जब मनुष्य अपना जीवन प्रकृति के सहारे पर चला रहा था, उसे अपने आप पर भरोसा नहीं था या यों कहें कि उसे अपने पुरुषार्थ का बोध नहीं था। उसकी प्रत्येक आवश्यकता प्रकृति के हाथों पूरी होती थी। भूख-प्यास की समस्या से लेकर छोटी-बड़ी सभी समस्याएँ प्रकृति के द्वारा हल होती थीं। इसीलिए वह प्रकृति की उपासना करने लगा। तत्कालीन कल्पवृक्षों के निकट जाता और वह उनसे प्राप्त सामग्रियों के आधार पर अपना जीवन-निर्वाह करता। इस प्रकार आदियुग का मानव प्रकृति के हाथों में खेलता था। उत्तर कालीन ग्रन्थों से पता चलता है कि उस युग के मानव की आवश्यकताएँ बहुत ही कम थीं। उस समय भी पति-पत्नी होते थे, पर उनमें परस्पर एक-दूसरे का सहारा पाने की आकाँक्षा, उत्तरदायित्व की भावना नहीं थी। सभी अपनी अभिलाषाओं और अपनी आवश्यकताओं के सीमित दायरे में बंधे थे। एक प्रकार से वह युग उत्तरदायित्व-हीन एवं सामाजिक तथा पारिवारिक सीमाओं से मुक्त एक स्वतन्त्र जीवन था। कल्पवृक्षों के द्वारा तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। इसलिए कोई भी उत्पादन-श्रम एवं जिम्मेदारी की भावना से बद्ध नहीं था। सभी अपने वैयक्तिक भोग में मस्त थे, लीन थे।

व्रत और रीति-रिवाज :

पुराने किसी युग में एक ऐसा रिवाज प्रचलित हो गया कि विवाह के समय बैल को तत्काल मार कर उसके ताजा खून से भरा लाल चमड़ा वर-वधू को ओढ़ाया जाता था। परन्तु जैनों को यह रिवाज कब मान्य हो सकता था? इसका अनुकरण करने से तो अहिंसा व्रत दूषित होता है। व्रतों के सामने रीति-रिवाजों का क्या मूल्य है? तो जैन इस रिवाज के लिए क्या करें? वैदिक परम्परा के कुछ लोग तो ऐसा किया करते थे और सम्भव है उन्होंने इस बात को धर्म का भी रूप दिया हो। परन्तु, जैन लोग इस प्रथा को स्वीकार नहीं कर सकते थे। उन्होंने इसमें सम्यक्त्व और व्रत—दोनों की हानि देखी। अतएव जैन गृहस्थों और जैनाचार्यों ने उस हिंसापूर्ण परम्परा में संशोधन कर लिया। उन्होंने कहा रक्त से सना गीला चमड़ा न ओढ़ा जाए, उसके स्थान पर लाल कपड़ा ओढ़ लेना, अति उत्तम है। ऐसा करने से प्रचलित परम्परा का मूल उद्देश्य भी कायम रह जाएगा और सम्यक्त्व तथा व्रतों में दूषण भी न लगने पाएगा।

लाल कपड़ा प्रसन्नता का, अनुराग का द्योतक माना जाता है। इस प्रकार जैनों ने रक्त से लथपथ चमड़े के बदले लाल कपड़ा ओढ़ने की जो परम्परा चलाई, वह आज भी चल रही है। आज भी विवाह आदि अवसरों पर वधु लाल कपड़े पहनती हैं। अतः जैनों ने उस दूषित परम्परा को बदलने के साथ कितनी बड़ी क्रान्ति की है, इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस विषय में अधिक देखना चाहें तो **'गोभिल्ल गृह्यसूत्र'** में विस्तार से देख सकते हैं।

उसी युग में एक और भी घृणित परम्परा भी थी। उत्सव के अवसर पर लोग हाथ में मनुष्य की खोपड़ी लेकर चलते थे। परन्तु, जब जैनधर्म का प्रचार बढ़ा, तो खोपड़ी रखने की भद्दी परम्परा समाप्त कर दी गई। जैनधर्म ने उसके स्थान पर नारियल रखने की परम्परा प्रचलित की। इस प्रकार जैनधर्म की बदौलत खोपड़ी की जगह नारियल की परम्परा धीरे-धीरे सर्वमान्य हो गई। आप देखेंगे कि नारियल ठीक खोपड़ी की शक्ल का होता है, वह मानव-की-सी आकृति का है। इस रूप में नारियल नरमुण्ड का प्रतीक है। उस समय के जैनों ने विचारा—खोपड़ी रखने से क्या लाभ? खोपड़ी तो अपावन और अशोभन वस्तु है और जंगलीपन की निशानी है। नारियल रखने से उस परम्परा का पालन भी हो जाएगा और जंगलीपन की निशानी भी दूर हो जाएगी।

इस प्रकार उस समय के हिंसा-प्रधान जंगली रिवाजों को जैनधर्म ने दूर किया, जिसमें देवी-देवताओं के आगे पशु-बलि दी जाती थी, यहाँ तक कि मनुष्य की खोपड़ी भी चढ़ाई जाती थी। मैं समझता हूँ, जैनों ने उन हिंसक परम्पराओं को खत्म करके और उनकी जगह इन नवीन अहिंसक परम्पराओं को कायम करके मानवीय वृत्ति की स्थापना की। जैनों ने नारियल के रूप में खोपड़ी का प्रतीक रखा, उसे अन्य धर्मावलम्बियों ने भी स्वीकार कर लिया और आज तक वह कायम है। इस प्रकार, जैनधर्म द्वारा स्थापित की हुई प्रथाओं और परम्पराओं में सर्वत्र आप अहिंसा की ही स्फुरणा देखेंगे।

पौराणिक युग की परम्परा :

अकर्म-भूमि की उस अवस्था में मनुष्य असंख्य-काल तक चलता गया। मानव की पीढ़ियाँ दर पीढ़ियाँ बढ़ती गईं। किन्तु फिर भी मानव जाति का विकास नहीं हुआ। उनके जीवन का क्रम विकसित नहीं हुआ। उनके जीवन में संघर्ष कम थे, लालसाएँ और आकाँक्षाएँ कम थीं। जीवन में भद्रता, सरलता का वातावरण था। कषाय की प्रकृतियाँ भी मंद थीं, यद्यपि कषायभाव की यह मन्दता ज्ञानपूर्वक नहीं थी, उनका स्वभाव, प्रकृति ही शान्त और शीतल थी। सुखी होते हुए भी उनके जीवन में ज्ञान एवं विवेक की कमी थी, वे सिर्फ शरीर के क्षुद्र घेरे में बन्द थे। संयम, साधना तथा आदर्श का विवेक उस जीवन में नहीं था। यही कारण था कि उस काल में एक भी आत्मा मोक्ष में नहीं गई, अहंता-ममता की वासना के बन्धनों को नहीं तोड़ सकी। उनकी दृष्टि केवल 'मैं' और 'मेरे' तक ही सीमित थी। शरीर के अन्दर शरीर से परे क्या है, मालूम होता है, इस सम्बन्ध में उन्होंने कभी सोचा ही नहीं, और यदि किसी ने सोचा भी तो आगे कदम नहीं बढ़ा सका। जब कभी उस भूमिका का अध्ययन करता हूँ, तो मन में ऐसा भाव आता है कि मैं उस जीवन से बचा रहूँ। जिस जीवन में ज्ञान का कोई प्रकाश न हो, सत्यता का कोई मार्ग न हो, भला उस जीवन में मनुष्य भटकने के सिवा और क्या कर सकता है? उस जीवन में यदि पतन नहीं है, तो उत्थान भी तो नहीं है। ऐसी निर्माल्य दशा का, इस त्रिशंकु जीवन का कोई भी महत्त्व नहीं है। कुछ ऐसी ही क्रान्ति और प्रगतिविहीन सामान्य दशा में वह अकर्म-युग सुदीर्घ काल तक चलता रहा।

नवयुग का नया सन्देश :

धीरे-धीरे कल्पवृक्षों का युग समाप्त हुआ। इधर प्राकृतिक उत्पादन क्षीण पड़ने लगे, उधर उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ने लगी। ऐसी परिस्थितियों में प्रायः विग्रह, वैर और विरोध पैदा हो ही जाते हैं। जब कभी उत्पादन कम होता है और उपभोक्ताओं की संख्या अधिक होती है, तब परस्पर संघर्षों का होना अवश्यंभावी है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक तौर पर उस युग में भी यही हुआ कि पारस्परिक प्रेम एवं स्नेह टूट कर घृणा, द्वेष, कलह और द्वन्द्व बढ़ने लगे, संघर्ष की चिनगारियाँ छिटकने लग गईं। समाज में सब ओर कलह, घृणा, द्वन्द्व का सृजन होने लगा।

मानव जाति की उन संकटमयी घड़ियों में, संक्रमणशील परिस्थितियों में प्रथम तीर्थंकर

भगवान् ऋषभदेव ने मानवीय भावना का उद्बोधन किया। उन्होंने मनुष्य जाति को समझाया कि—अब प्रकृति के भरोसे रहने से काम नहीं चलने का। अपने हाथों का उपयोग सिर्फ खाने के लिए ही नहीं, प्रत्युत कमाने, उपार्जन करने के लिए भी होना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि—युग बदल गया है, अकर्म-युग का मानव अब कर्म-युग (पुरुषार्थ के युग) में प्रविष्ट हो रहा है। इतने दिन पुरुष सिर्फ भोक्ता बना हुआ था। प्रकृति के कर्तृत्व पर उसका जीवन टिका हुआ था। किन्तु अब यह वैषम्य चलने का नहीं है। अब कर्तृत्व और भोक्तृत्व, दोनों ही पुरुष में अपेक्षित है। पुरुष ही कर्त्ता है और पुरुष ही भोक्ता है। तुम्हारी भुजाओं में बल है, तुम पुरुषार्थ से आनन्द का उपभोग करो। भगवान् आदिनाथ के कर्म-युग का यह उद्घोष अब भी ऋग्वेद १०।६०।१२ में प्रतिध्वनित होता दिखाई पड़ता है—

"अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥"

—मेरा हाथ ही भगवान् है, भगवान् से भी बढ़कर है। यह मेरा हाथ विश्व के लिए भेषज है, इसके स्पर्श मात्र से सबका कल्याण होता है।

पुरुषार्थ जागरण की उस वेला में भगवान् ऋषभदेव ने युग को नया मोड़ दिया। मानवजाति को, जो धीरे-धीरे अभावग्रस्त हो रही थी, पराधीनता के फन्दे में फँसकर तड़पने लगी थी, उसे उत्पादन का मन्त्र दिया, श्रम और स्वतन्त्रता का मार्ग दिखाया। फलतः मानव समाज में फिर से नया उल्लास, आनन्द बरसने लगा। सुख-चैन की मुरली बजने लगी।

मनुष्य के जीवन में जब-भी कभी ऐसी क्रान्तिशील घड़ियाँ आती हैं, तो आनन्द की स्रोतस्विनी बहने लग जाती है, वह नाचने लगता है। सबके साथ बैठकर आनन्द और उत्सव मनाता है। और बस वे ही घड़ियाँ, वे ही तिथियाँ जीवन में व्रत एवं पर्व का रूप ल लेती हैं और इतिहास की महत्त्वपूर्ण तिथियाँ बन जाती हैं। इस प्रकार उस नये युग का नया सन्देश जन-जीवन में नई चेतना फूँककर उल्लास का त्योहार बन गया। और वही परम्परा आज भी हमारे जीवन में आनन्द-उल्लास की घड़ियों को त्यौहार के रूप में प्रकट करके सबको सम्यक्-आनन्द का अवसर देती है।

भगवान् ऋषभदेव के द्वारा कर्मभूमि की स्थापना के बाद मनुष्य पुरुषार्थ के युग में आया और उसने अपने उत्तरदायित्वों को समझा। परिणाम यह हुआ कि सुख-समृद्धि और उल्लास के झूले पर झूलने लगा, और जब सुख-समृद्धि एवं उल्लास आया, तो फिर व्रतों में से व्रत निकलने लगे। हर घर, हर परिवार त्योहार मनाने लगा और फिर सामाजिक जीवन में पर्वों, त्योहारों की लड़ियाँ बन गईं। समाज और राष्ट्र में त्योहारों की शृंखला बनी। जीवन-चक्र जो अबतक व्यक्तिवादी दृष्टि पर घूम रहा था, अब व्यष्टि से समष्टि की ओर घूमा। व्यक्ति ने सामूहिक रूप धारण किया और एक की खुशी, एक का आनन्द, समाज की खुशी और समाज का आनन्द बन गया। इस प्रकार सामाजिक भावना की भूमिका पर चले हुए व्रत, सामाजिक चेतना के अग्रदूत सिद्ध हुए। नई स्फूर्ति, नया आनन्द और नया जीवन समाज की नसों में दौड़ने लगा।

प्राचीन जैन, बौद्ध एवं वैदिक ग्रन्थों के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि उस समय में पर्व, त्योहार जीवन के आवश्यक अंग बन गए थे। एक भी दिन ऐसा नहीं जाता, जबकि समाज में पर्व, त्योहार व उत्सव का कोई आयोजन न हो। इतना ही नहीं, बल्कि एक-एक दिन में पाँच-पाँच, दस-दस और उससे भी अधिक पर्वों का सिल-सिला चल निकला। सामाजिक जीवन में बच्चों के पर्व अलग, औरतों के पर्व अलग, और वृद्धों के पर्व अलग। इस दृष्टि से भारत का जन-जीवन नित्यप्रति बहुत ही उल्लसित—आनन्दित रहा करता था।

व्रतों का सन्देश :

हमारे पर्वों एवं व्रतों की वह लड़ी, कुछ छिन्न-भिन्न हुई परम्परा के रूप में आज भी हमें महान् अतीत की याद दिलाती है। हमारा अतीत उज्ज्वल रहा है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु वर्तमान कैसा गुजर रहा है, यह थोड़ा विचारणीय है। इन व्रतों के पीछे सिर्फ अतीत की याद को ताजा करना ही हमारा लक्ष्य नहीं है, बल्कि उसके प्रकाश में वर्तमान को देखना भी आवश्यक है। अतीत का वह गौरव जहाँ एक ओर हमारे जीवन का एक सुनहला पृष्ठ खोलता है, वहाँ दूसरी ओर नया पृष्ठ लिखने का भी सन्देश देता है। इसलिए व्रतों की खुशी के साथ-साथ हमें अपने नव-जीवन के अध्याय को भी खोलना चाहिए और उसका अवलोकन करके अतीत को वर्तमान के साथ मिलाना चाहिए।

जीने की कला :

यद्यपि जैन धर्म की परम्परा निवृत्ति-मूलक रही है। उसके अनुसार जीवन का लक्ष्य भोग नहीं, त्याग है; बन्धन नहीं, मोक्ष है, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि वह सिर्फ परलोक की ही बात करता है। इस जीवन से उसने आँखें मूंद ली है। हम इस संसार में रहते हैं, तो हमें संसार के ढंग से ही जीना होगा, हमें जीने की कला सीखनी होगी। जब तक जीने की कला नहीं आती है, तबतक जीना वास्तव में आनन्ददायक नहीं होता। जैन परम्परा, जैन पर्व, एवं जैन विचार हमें जीने की कला सिखाते हैं, हमारे जीवन को सुख और शान्तिमय बनाने का मन्त्र देते हैं। जैन धर्म का लक्ष्य मुक्ति है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसके पीछे इस जीवन को बर्बाद कर दिया जाए। वह यह नहीं कहता कि मुक्ति के लिए शरीर, परिवार व समाज के कर्तव्यों की शृंखला को तोड़ डाले, कोई किसी को अपना न माने, कोई पुत्र अपने माता-पिता को माता-पिता न माने, पति-पत्नी परस्पर कुछ भी स्नेह का नाता न रखें, बहन-भाई आपस में एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर चलें। जीवन की यात्रा में चलते हुए, परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का भार उतार फेंके। इस प्रकार तो जीवन में एक भयंकर तूफान आ जाएगा, भारी अव्यवस्था और अशान्ति बढ़ जाएगी, मुक्ति की अपेक्षा स्वर्ग से भी गिरकर नरक में चले जाएँगे। जैनधर्म का सन्देश है कि हम जहाँ भी रहें, अपने स्वरूप को समझकर रहें, शारीरिक, पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों के बीच बँधे हुए भी उनमें कैद न हों। परस्पर एक-दूसरे की आत्मा को समझकर चलें, शारीरिक सम्बन्ध को महत्त्व न देकर आत्मिक पवित्रता का ध्यान रखें। जीवन में यथावसर कुछ करना ही पड़ता है, किन्तु वह आसक्त होकर नहीं, अपितु सिर्फ एक कर्तव्य के नाते किया जाए। शरीर व इन्द्रियों के बीच में रहकर भी उसके दास नहीं, अपितु स्वामी बन कर रहें। भोग में रहते हुए भी योग को भूल न जाएँ। महलों में रहकर भी उनके दास बनकर नहीं, किन्तु उन्हें अपना दास बनाकर रखें। ऊँचे सिंहासन पर या ऐश्वर्य के विशाल ढेर पर बैठकर भी उसके गुलाम न बनें, बल्कि उसे अपना गुलाम बनाए रखें। जब धन स्वामी बन जाता है, तभी मनुष्य को भटकाता है। धन और पद मूर्तिमान शैतान हैं। जब तक ये इन्सान के पैरों के नीचे दबे रहते हैं, तब तक तो ठीक है, परन्तु जब ये सर पर सवार हो जाते हैं, तो एक अच्छे इन्सान को भी शैतान बना देते हैं।

समाज का ऋण :

जैन धर्म में भरत जैसे चक्रवर्ती भी रहे हैं, किन्तु वे उस विशाल साम्राज्य के बन्धन में नहीं फँसे। जब तक इच्छा हुई उपयोग किया और जब चाहा तब छोड़कर योग स्वीकार कर लिया। उनका ऐश्वर्य, बल और बुद्धि, समाज व राष्ट्र के कल्याण के लिए ही होता था। उन लोगों ने यही विचार दिया कि जब हम इस जगत् में आए थे तो कुछ लेकर नहीं आए थे, जन्म के समय तो मक्खी-मच्छर तक को शरीर से दूर हटाने की शक्ति नहीं थी। शास्त्रों में उस स्थिति को 'उत्तानशायी' कहा गया है। जब उसमें करवट बदलने की भी क्षमता नहीं

थी, इतना अशक्त और असहाय प्राणी बाद में इतना शक्तिशाली बना कि आश्चर्य है उसकी क्षमता पर। इसका आधार है—"अपने शुभ कर्मों का संचय एवं उसके आधार पर प्राप्त होने वाले माता, पिता, परिवार व समाज का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग।"

यह निश्चित है कि जिन् महान् पुरुषों ने हमें समाज की इतनी ऊँचाइयों पर लाकर खड़ा किया है, उनके प्रति हमारा बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। समाज का ऋण प्रत्येक मनुष्य के सिर पर है, जिसे वह लेते समय हर्ष के साथ लेता है, तो फिर उसको चुकाते समय वह कुलबुलाता क्यों है? हमारी यह सब सम्पत्ति, सब ऐश्वर्य और ये सब सुख सामग्रियाँ समाज की ही देन हैं। यदि मनुष्य लेता ही लेता जाए वापस दे नहीं तो वह समाज के अंग में विकार पैदा कर देता है। वह इस धन-ऐश्वर्य का दास बनकर क्यों रहे, उसका स्वामी बनकर क्यों न उपयोग करे! उसे दो हाथ मिले हैं, एक हाथ से स्वयं खाए, तो दूसरे हाथ से औरों को भी खिलाए। वेद का एक मन्त्र है—

"शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर।"

सौ हाथ से इकट्ठा करो, तो हजार हाथ से बाँटो। संग्रह करने वाला यदि विसर्जन नहीं करे, तो उसकी क्या दशा होती है? पेट में अन्न आदि इकट्ठे तो होते जाएँ, परन्तु न उनका रस बने, न शक्ति बने और न प्राप्त शक्ति का योग्य वितरण ही हो, तो क्या आदमी जी सकता है? मनुष्य यदि समाज से कमाता है, तो समाज की भलाई के लिए देना भी आवश्यक होता है। खुद खाता है, तो दूसरों को खिलाना भी जरूरी है। हमारे अतीत-जीवन के उदाहरण बताते हैं कि अकेला खाने वाला राक्षस होता है और दूसरों को खिलाने वाला देवता।

एक पौराणिक कथा है कि देवताओं को भगवान् विष्णु की ओर से प्रीतिभोज का आमंत्रण दिया गया। सभी अतिथियों को दो पंक्तियों में आमने-सामने बिठलाकर भोजन परोसा गया और सभी से खाना शुरू करने का निवेदन किया गया। भगवान् विष्णु ने कुछ ऐसी माया रची कि सभी के हाथ सीधे रह गए, किसी का मुड़ता तक नहीं था। अब समस्या हो गई कि खाएँ तो कैसे खाएँ? जब अच्छा भोजन परोसा हुआ सामने हो, पेट में भूख हो और हाथ नहीं चलता हो, तो ऐसी स्थिति में आदमी झुँझला जाता है। सभी अतिथि भौचक्के से देखते रह गए कि यह क्या हुआ? आखिर बुद्धिमान देवताओं ने एक तजवीज निकाली। जब देखा कि हाथ मुड़कर घूमता नहीं है, तो आमने-सामने वाले एक-दूसरे को खिलाने लग गए। दोनों पंक्ति वालों ने परस्पर एक-दूसरे को खिला दिया और अच्छी तरह से खाना खा लिया। जिन्होंने एक-दूसरे को खिलाकर पेट भर लिया सभी तृप्त हो उठे, पर कुछ ऐसे भी थे, जो यों ही देखते ही रह गए, उन्हें एक-दूसरे को खिलाने की नहीं सूझी, वे भूखे पेट ही उठ खड़े हुए। विष्णु ने कहा—जिन्होंने एक-दूसरे को खिलाया वे देवता हैं और जिन्होंने किसी को नहीं खिलाया, सिर्फ स्वयं खाने की चिन्ता ही करते रहे, वे दैत्य हैं।

वास्तव में यह रूपक जीवन की एक ज्वलंत समस्या का हल करता है। देव और दैत्य-भावना के विभाजन का आधार, इसमें एक सामाजिक ऊँचाई पर खड़ा किया गया है। जो दूसरों को खिलाता है, वह स्वयं भी भूखा नहीं रहता और दूसरी बात है कि उसका आदर्श देवत्व का आदर्श है, जबकि स्वयं ही पेट भरने की चिंता में पड़ा रहने वाला, स्वयं भी भूखा रहता है और समाज में उसका दानवीय रूप प्रकट होता है।

व्रतों की सार्थकता :

हमारे व्रत जीवन के इसी महान् उद्देश्य को प्रकट करते हैं। सामाजिक जीवन की आधार भूमि और उसके उज्ज्वल आदर्श हमारे व्रतों एवं त्योहारों की परम्परा में छिपे पड़े हैं। भारत के कुछ पर्व इस लोक के साथ परलोक के विश्वास पर भी चलते हैं। उनमें मानव

का विराट् रूप परिलक्षित होता है। जिस प्रकार इस लोक का हमारा आदर्श है उसी प्रकार परलोक के लिए भी होना चाहिए। वैदिक या अन्य संस्कृतियों में, मरने के पश्चात् पिण्ड-दान की प्रक्रिया है। इसका रूप जो भी कुछ हो, किन्तु भावना व आदर्श इसमें भी बड़े ऊँचे हैं। जिस प्रकार वर्तमान में अपने सामाजिक सहयोगियों के प्रति अर्पण की भावना रहती है, उसी प्रकार, अपने पूर्वजों के प्रति एक श्रद्धा एवं समर्पण की भावना इसमें सन्निहित है। जैन-धर्म व संस्कृति इसके धार्मिक-स्वरूप में विश्वास नहीं रखती। उसका कहना है कि तुम पिण्डदान या श्राद्ध करके उन मृतात्माओं तक अपना श्राद्ध नहीं पहुँचा सकते, और न इससे पर्व मनाने की ही सार्थकता सिद्ध होती है। पर्व की सार्थकता तो इसमें है कि जीवन के दोनों ओर-छोर पर उल्लास और आनन्द की उछाल आती रहे। पूर्वजों की स्मृति रखना, और उनका सम्मान करना, यही सच्चा श्राद्ध है।

इस भावना को लेकर कि परलोक के लिए भी हमें जो कुछ करना है, वह इसी लोक में कर लिया जाए। हमारी जैन संस्कृति में अनेक पर्व चलते हैं। पर्युषण-पर्व भी इसी भावना से सम्बद्ध है। इन पर्वों की परम्परा लोकोत्तर पर्व के नाम से चली आती है। इनका आदर्श विराट् होता है। वे लोक-परलोक दोनों को आनन्दित करने वाले होते हैं। उनका संदेश होता है कि तुम सिर्फ इस जीवन के भोग विलास व आनन्द में मस्त होकर अपने को भूलो नहीं, तुम्हारी दृष्टि व्यापक होनी चाहिए, आगे के लिए भी जो कुछ करना है, वह भी यहीं करलो। तुम्हारे दो हाथ हैं, एक हाथ में इहलोक के आनन्द है, तो दूसरे हाथ में परलोक के आनन्द रहने चाहिए। ऐसा न हो कि यहाँ पर सिर्फ मौज-मजा के त्योहार मनाते यों ही चले जाओ और आगे फाकाकशी करनी पड़े। अपने पास जो शक्ति है, सामर्थ्य है, उसका उपयोग इस ढंग से करो कि इस जीवन के आनन्द के साथ परलोक का आनन्द भी नष्ट न हो, उसकी भी व्यवस्था तुम्हारे हाथ में रह सके। जैन पर्वों का यही अन्तरंग है कि वे आदमी को वर्तमान में भटकने नहीं देते, मस्ती में भी उसे होश में रखते हैं और बेचैनी में भी। समय-समय पर उसके लक्ष्य को, जो कभी प्रमाद की आँधियों से धूमिल हो जाता है, स्पष्ट करते रहते हैं। उसको दिङ्मूढ़ होने से बचाते रहते ह और प्रकाश की किरण बिखेर कर अन्धकाराछन्न जीवन को आलोकित करते रहते हैं।

नया साम्राज्य :

बौद्ध-साहित्य में एक कथानक आता है कि भारत में एक ऐसा सम्राट् था, जिसके राज्य की सीमाओं पर भयंकर जंगल थे; जहाँ पर हिंस्र वन्य पशुओं की चीत्कारों और दहाड़ों से आस-पास के क्षेत्र आतंकित रहते थे। वहाँ एक विचित्र प्रथा यह थी कि राजाओं के शासन की अवधि पाँच वर्ष की होती थी। शासनावधि की समाप्ति पर बड़े धूम-धाम और समारोह के साथ उस राजा को और उसकी रानी को राज्य की सीमा पर स्थित उस भयंकर जंगल में छोड़ दिया जाता था, जहाँ जाने पर बस मौत ही स्वागत में खड़ी रहती थी।

इसी परम्परा में एकबार एक राजा को जब गद्दी मिली, तो खूब जय-जयकार मनाए गए, बड़ी धूमधाम से उसका उत्सव हुआ। किन्तु राजा प्रतिदिन महल के कंगूरों पर से उस जंगल को देखता और पाँच वर्ष की अवधि के समाप्त होते ही आने वाली उस दुःस्थिति को सोच-सोचकर काँप उठता। राजा का खाया-पीया जलकर भस्म हो जाता और वह सूख-सूख कर काँटा होने लगा।

एक दिन एक प्रबुद्ध दार्शनिक राजा के पास आया और राजा की इस गम्भीर व्यथा का कारण पूछा। जब राजा ने दार्शनिक से अपनी पीड़ा का भेद खोला—कि पाँच वर्ष बाद मुझे और मेरी रानी को उस सामने के भयंकर जंगल में जंगली जानवरों का भक्ष्य बन जाना पड़ेगा, बस यही चिंता मुझे खाए जा रही है।

दार्शनिक ने राजा से पूछा—पाँच वर्ष तक तो तेरा अखण्ड साम्राज्य है न? तू जैसा चाहे वैसा कर तो सकता है न?

राजा ने कहा—हाँ, इस अवधि में तो मेरा पूर्ण अधिकार है, मेरा आदेश सभी को मान्य होता है।

दार्शनिक ने बताया—"तो फिर अपने अधिकार का उपयोग क्यों नहीं करते? समस्त जंगल को कटवा कर साफ करवा दो और वहाँ पर नया साम्राज्य स्थापित करदो, अपने लिए महल बनवालो, जनता के रहने के लिए भी आवास बनवाकर अभी से उस जंगल को शहर के रूप में आबाद करदो। जबकि तुम्हें पूर्ण अधिकार है और विधान व परम्परा के अनुसार जब तुम्हें अवधि समाप्त होने पर जंगल में छोड़ा जाए, तो हिंस्र पशुओं की गर्जनाओं व आतंक की जगह नगरजनों का मधुर स्वागत, धन व ऐश्वर्य क्रीड़ा करता मिलेगा।"

राजा को यह बात जँच गई और तत्काल आदेश देकर जंगल को साफ करवा दिया। और उस भयावह स्थान को सुन्दर-सुन्दर भवन, उद्यान आदि से खूब सजा दिया गया, और एक नए नगर का निर्माण कर दिया गया। अब राजा बहुत प्रसन्न रहने लगा, अपने उस नगर को देखता, तो पुलकित हो उठता। पाँच वर्ष की अवधि सम्पूर्ण हुई। जहाँ अन्य सम्राट् अवधि समाप्त होने पर रोते-बिलखते थे, वहाँ यह हँस रहा था। विधानानुसार पाँच वर्ष की अवधि समाप्त होने पर राजा अपने ही द्वारा निर्मित उस नये साम्राज्य में, जो कभी भयंकर जंगल था, जाने लगा तो नगर के हजारों नर-नारी उसके पीछे हो लिए। उस नवनिर्मित नगर के आकर्षण व सौन्दर्य के कारण लोग वहाँ जाकर बसने लगे और राजा आनन्द से रहने लगा।

यही बात जीवन की है। इस संसार से परे आगे नरक की भीषण-यातनाएँ, ज्वालाएँ हमें अभी से बेचैन कर रही हैं और हम सोचते हैं कि आगे नरक में यह कष्ट देखना पड़ेगा। किन्तु यह नहीं सोचते कि उस नरक को बदलकर स्वर्ग क्यों न बना दिया जाए? यह सच है कि यहाँ से एक कौड़ी भी हमारे साथ नहीं जाएगी। किन्तु इस जीवन में रहते-रहते तो हम वहाँ का साम्राज्य बना सकते हैं। इस जीवन के तो हम सम्राट् हैं, शाहंशाह हैं। यह ठीक है कि इस जीवन के बाद मौत की भयंकर घाटी है, नरक आदि की भीषण यंत्रणाएँ हैं, जो जीव को उदरस्थ करने की प्रतीक्षा में रहती हैं किंतु, यदि मनुष्य अपने इस जीवन की अवधि में दान दे सके, तपस्या कर सके, त्याग, ब्रह्मचर्य, सत्य आदि का पालन कर सके, साधना का जीवन बिता सके, और इस प्रकार पहले से ही आगे की तैयारियाँ करके प्रस्तुत रहे, तो इस यात्रा में, इस जीवन में उसे हाय-हाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। वर्तमान के साथ भविष्य को भी उज्ज्वल बना सकता है, उसके दोनों जीवन आनन्दमय हो सकते हैं।

व्रतों की फलश्रुति :

इस प्रकार जितने भी पर्व-त्योहार आते हैं, उनका यही संदेश है कि तुम इस जीवन में आनन्दित रहो और अगले जीवन में भी आनन्दित रहने की तैयारी करो। जैसे यहाँ पर त्योहारों की खुशियों में भुजाएँ उछालते हो, वैसे अगले जीवन में भी उछालते रहो।

हमारे व्रतों का मानव के लिए यही आदर्श बोध है कि आज तुम्हें जीवन का वह साम्राज्य प्राप्त है, जिस साम्राज्य के बल पर तुम दूसरे हजारों-हजार साम्राज्य खड़े कर सकते हो। तुम अपने भाग्य के स्वयं विधाता हो, अपने सम्राट् स्वयं हो। तुम्हें अपनी शक्ति का भान होना चाहिए। मौत के भय से काँपते मत रहो, बल्कि ऐसी साधना करो, ऐसा प्रयत्न करो कि वे भय दूर हो जाएँ और परलोक का वह भयंकर जंगल तुम्हारे साम्राज्य का सुन्दर देश बन जाए। पर्व मनाने की यही परम्परा है, पर्युषण और उसके व्रतों की यही फलश्रुति है कि जीवन के प्रति निष्ठावान बनकर जीवन को निर्मल बनाओ, इस जीवन में अगले जीवन का प्रबन्ध करो। जब तुम्हें यहाँ की अवधि समाप्त होने पर आगे की ओर प्रस्थान करना पड़े, तो रोते-बिलखते नहीं, बल्कि हँसते हुए करो। साधक इस जीवन को भी हँसते हुए जीए और अगले जीवन को चले, तो भी हँसते हुए चले, पर्युषण का यह पावन-पर्व हम सबको अपना यही सन्देश सुना रहा है।

हमारे सभी व्रत आत्म-साधना के सुन्दर प्रयास हैं। अन्दर के सुप्त ईश्वरत्व को जगाने की साधना है। मानव शरीर नहीं है, आत्मा है, चैतन्य है, अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है। लोक-पर्व शरीर के आसपास घूमते हैं, किन्तु लोकोत्तर पर्व आत्मा के मूल केन्द्र तक पहुँचते हैं। शरीर से आत्मा में, और आत्मा से अन्त रहित निज शुद्ध सत्तारूप परमात्मा में पहुँचने का लोकोत्तर संदेश, ये व्रत देते हैं। इनका सन्देश है कि साधक कहीं भी रहे, किसी भी स्थिति में रहे, परन्तु अपने लक्ष्य को न बदले, अपने अन्दर के शुद्ध परमात्म-तत्त्व को न भूले।

●